जैन शास्त्रों में आहार विज्ञान

प्रो० नन्दलाल जैन

भारतीय संस्कृति में धर्म को एक विशेष प्रकार की जीवनपद्धति माना गया है। यही कारण है कि इसमें गर्भ से मृत्युतक, पूर्वजन्म से उत्तर-जन्मतक, प्रातःकाल से दूसरे सूर्योदय तक के सभी भौतिक और आध्यात्मिक विषय चार वर्गों में (कथा-पुराण, आचार शास्त्र, लौकिक विद्यायें और गणित) विभाजित कर संक्षेप से लेकर अतिविस्तार तक प्रतिपादित किये गये हैं। इसका केन्द्रबिन्दु मुख्यतः मानव-जाति है पर मानवेतर समुदायों की चर्चा भी इसमें पर्याप्त मात्रा में है। विश्व में विद्यमान मानव एवं मानवेतर समुदायों की समग्र संज्ञा 'जीव' है। पहले जीव और जीवन शब्दों में विशेष अन्तर नहीं माना जाता था, 'सव्वेसिं जीवनं पियं', पर अब जीव (Living) को सादि सान्त (संसारी) और जीवन (Life) अनादि-अनन्त कहते हैं। हम यहाँ जीव की एक अनिवार्य आवश्यकता आहार के विषय में चर्चा करेंगे क्योंकि इसके बिना वह संसार में अधिक दिनों तक नहीं टिक सकता। धर्म और अध्यात्म को भी विकसित नहीं कर सकता। संसार की कष्टमयता के वर्णन के बावजूद भी प्रत्येक प्राणी उसके बाहर नहीं जाना चाहता। शास्त्रों में जीव में मृत्यु के प्रति निर्भयता का दृष्टिकोण विकसित किया गया है, पर सामान्य मानव-प्रकृति अभी भी मृत्यु को टालना ही चाहती है। इसलिये वह उसके कारणों पर विजय प्राप्त कर अतिजीविता को प्रश्रय देता लगता है। ये प्रयत्न इस बात के प्रतीक हैं कि वह संसार और उसके परिवेश को दुःखमय मानने की शास्त्रीय शिक्षा को तात्त्विक महत्त्व नहीं देता दिखता। लगता है, उसे यहाँ सुख अधिक और दुःख कम प्रतीत होते हैं। वह अंतस् से स्वामी सत्यभक्त की ऐसी मान्यता से अधिक प्रभावित लगता है।[1]

आहार की दृष्टि से जीवों की दो श्रेणियाँ माननी चाहिये : प्रथम श्रेणी में सभी प्रकार की वनस्पति आते हैं। ये अपना आहार स्वयं बनाते हैं (स्वयं पोषी)। दूसरी श्रेणी में त्रसजीव आते हैं। ये अन्य जीवों को अपना आहार बनाते हैं (पर-पोषी)। आहार सभी जीवों के अस्तित्व एवं अतिजीविता के लिये अनिवार्य आवश्यकता है। इसके विषय में जैन शास्त्रों में पर्याप्त विवरण मिलता है। वहाँ इसे आहार वर्गणा, आहार पर्याप्ति, आहारक शरीर, आहार प्रत्याख्यान, आहार परीषह, आहार दान आदि के रूप में सहचरित किया गया है। ये पद आहार के विभिन्न रूपों व फलों को प्रकट करते हैं। प्रारंभ में, समाज के मार्ग दर्शक साधु एवं आचार्य होते थे। वे प्रायः साधुधर्म का ही उपदेश करते थे। इसीलिये प्राचीन शास्त्रों में साधु-आचार की ही विशेष चर्चा पाई जाती है। आचारांग, दशवैकालिक, मूलाचार, भगवती आराधना आदि श्रावकाचार के विषय में मौन हैं। तथापि अनेक आचार्यों ने श्रावकधर्म पर ध्यान दिया है। उन्होंने उसे द्वादशांगी में उपासकदशा नामक सप्तम अंग बताया है। यह स्पष्ट है कि साधुओं की तुलना में श्रावकों की स्थिति द्वितीय है, अतः उनसे सम्बन्धित उप-

१. स्वामी सत्यभक्त; संगम, मई १९८७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देशों को अमृतचन्दसूरि[1] तक ने निग्रहस्थानी माना है। फिर भी, कुन्दकुंद ने चरित्र-प्राभृत[2] में ६ गाथाओं में श्रावकों के चारित्र का ११ प्रतिमाओं और १२ व्रतों के रूप में उल्लेख किया है। उसमें कुछ परिवर्धन करते हुए उमास्वामी[3] ने तत्त्वार्थसूत्र के सातवें अध्याय के १८ सूत्रों में इसका वर्णन किया है। आचार्य समंतभद्र ने 'न धर्मो धार्मिकं विना' के आधार पर श्रावक पर सर्वप्रथम ग्रन्थ 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार'[4] लिखा। उसके बाद अनेक आचार्यों ने इस विषय पर ग्रन्थ लिखे हैं। इन ग्रंथों की तुलना में साधु-आचार पर कम ही ग्रन्थ लिखे गये हैं (सारिणी १)। मूलाचार और भगवती आराधना के बाद

सारिणी १ श्रावकाचार के प्रमुख जैन ग्रन्थ

क्रमांक	आचार्य	समय	ग्रन्थनाम
१.	कुन्दकुंद	१-२री सदी	चारित्रप्राभृत
२.	उमास्वामी	२-३री सदी	तत्त्वार्थसूत्र
३.	समन्तभद्र	५वीं सदी	रत्नकरंडश्रावकाचार
४.	आचार्य जिनसेन	८वीं सदी	आदिपुराण
५.	सोमदेव	१०वीं सदी	उपासकाध्ययन
६.	अमृतचन्दसूरि	१०वीं सदी	पुरुषार्थसिद्धयुपाय
७.	अमितगति-२	१०-११वीं सदी	अमितगतिश्रावकाचार
८.	वसुनन्दि	११वीं सदी	वसुनन्दिश्रावकाचार
९.	पद्मनन्दि	११वीं सदी	पद्मनन्दिपंचविंशतिका
१०.	पं० आशाधर	१२-१३वीं सदी	सागारधर्मामृत
११.	पं० दौलतराम कासलीवाल	१६९२-१७७२	जैनक्रिया कोष
१२.	आ० कुंथुसागर	२०वीं सदी	श्रावकधर्म प्रदीप

१३ वीं सदी का अनगार धर्मामृत ही आता है। इससे यह स्पष्ट है कि विभिन्न युगों के आचार्यों ने श्रावकों के आचार की महत्ता स्वीकार की है। श्रावक वर्ग न केवल साधुओं का भौतिक दृष्टि से संरक्षक है, अपितु वही श्रमणवर्ग का आधार है क्योंकि उत्तम श्रावक ही उत्तम साधु बनते हैं। श्रावक श्रमणधर्म की प्रतिष्ठा के प्रहरी एवं रक्षक हैं। वर्तमान श्रावक भूतकालीन परम्परा से अनुप्राणित होता है और भविष्य की परम्परा को विकसित करता है।[5] अतः आचार्यों ने उनके विषय में ध्यान दिया, यह न केवल महत्त्वपूर्ण है, अपितु प्रशंसनीय भी है।

---

१. शास्त्री, पं०; कैलाशचंद्र, सागार धर्मामृत (सं०), भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, १९७८, पृ० ४०
२. कुंदकुंद, अष्टपाहुड, दि० जैन संस्थान, महावीर जी, १९६७, पृ० ६९-७७
३. उमास्वामी; तत्त्वार्थसूत्र, वर्णी ग्रन्थ माला, काशी, १९४९, पृ० ३३७-५८
४. समन्तभद्र; रत्नकरंड श्रावकाचार, एस० एल० जैन ट्रस्ट, भेलसा, १९५१
५. जैन, डा० सागरमल; श्रावक धर्म की प्रासंगिकता का प्रश्न, पा० वि०, १९८३, पृ० १-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आहार की परिभाषा—

श्रावक या मनुष्य के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का निर्माण अनेक कारकों से होता है : परम्परा, संस्कार, मनोविज्ञान, परिवेश, समाज, आहार-विहार आदि। इनमें आहार प्रमुख है। "जैसा खावे अन्न, वैसा होवे मन", "जैसा पीवे पानी, वैसी बोले बानी" आदि लोकोक्तियाँ इसी तथ्य को प्रकट करती हैं। यद्यपि ये देशकाल सापेक्ष हैं, फिर भी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।[1] धार्मिक दृष्टि से पल्लवित कर्मवाद के अनुसार आहार शरीर, अंगोपांग, निर्माण, बंधन, संघात, संस्थान एवं संहनन नामकर्म के उदय में निमित्त होता है।[2] यह शरीरान्तर ग्रहण करने हेतु एकाधिक समय की विग्रहगति में भी होता है। वस्तुतः आहार शब्द की अवधारणा हैं आ—समन्तात-चारों ओर या परिवेश से, हरति-गृह्णाति-ग्रहण किये जाने वाले द्रव्यों के आधार पर स्थापित है। पूज्यपाद और अकलंक[3] ने तीन स्थूल शरीर और उनको चालित करने वाली ऊर्जाओं (सात पर्याप्तियों) के निर्माण के लिए कारणभूत पुद्गल वर्गणाओं सूक्ष्म, स्थूल, द्रव, गैस व ठोस द्रव्य) के अन्तर्ग्रहण को आहार कहा है। फलतः वर्तमान में आहार या भोजन के रूप में ग्रहण किये जाने वाले सभी द्रव्य तो आहार हैं ही। इसके अतिरिक्त, जैनमत के अनुसार, ज्ञान, दर्शन आदि कर्म और हास्य, दुःख, शोक, मन, घृणा, लिंग, इच्छा, अनिच्छा आदि नोकर्म भी ऊर्जात्मक सूक्ष्म द्रव्य हैं। अतः इनका भी परिवेश से अनाग्रहण आहार कहलाता है। इस दृष्टि से जैनों की 'आहार' शब्द की परिभाषा, आज की वैज्ञानिक परिभाषा से, पर्याप्त व्यापक मानना चाहिये। इसमें भौतिक द्रव्यों के साथ भावनात्मक तत्त्वों का अन्तर्ग्रहण भी समाहित किया गया है। इसलिए आहार के शारीरिक प्रभावों के साथ मनोवैज्ञानिक प्रभाव भी, जैन शास्त्रों में प्राचीनकाल से ही माने जाते रहे हैं। आहार विशेषज्ञों ने आहार के भावनात्मक प्रभावों से सह-संबंधन की पुष्टि पिछली सदी के अन्तिम दशक में ही कर पाये हैं।

आहार की आवश्यकता लाभ या उपयोग : वैज्ञानिक परिभाषा

जैन आचार्यों ने प्राणियों के लिये आहार की आवश्यकता प्रतिपादित करने हेतु अपने निरीक्षणों को निरूपित किया है। उत्तराध्ययन में बताया है कि आहार के अभाव में शरीर का जंघा तृण के समान दुर्बल हो जाता है, धमनियां स्पष्ट नजर आने लगती हैं।[4] भूखे रहने पर प्राणी की क्रिया क्षमता घट जाती है। मूलाचार के आचार्य[5] ने देखा कि आहार की आवश्यकता दो कारणों से होती है : (i) भौतिक और (ii) आध्यात्मिक। वस्तुतः भौतिक लक्ष्यों की प्राप्ति से ही आध्यात्मिक लक्ष्य सधता है, "शरीरमाद्यम् खलु धर्म साधनं"। इन्हें निम्न प्रकार सारिणीबद्ध किया जा सकता है—

१. जैन, डा० नेमीचंद्र (सं०); **तीर्थंकर,** जनवरी १९८७

२. भट्ट, अकलंक; **तत्त्वार्थ राजवार्तिक,** खं० २, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी १९५७, पृ० ५७६

३. वही; खण्ड १, पृ० १४०

४. **उत्तराध्ययन,** सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा १९७२, पृ० १७

५. आचार्य वट्टकेर; **मूलाचार,** भारतीय ज्ञानपीठ १९८४, पृ० ३६९-७१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सारिणी २ : आहार के शास्त्रीय एवं वैज्ञानिक लाभ

(अ) भौतिक लाभ : शास्त्रीय दृष्टिकोण	वैज्ञानिक दृष्टिकोण
(i) शरीर में बल (ऊर्जा) बढ़ता है।	(i) आहार शरीर की मूलभूत एवं विशिष्ट क्रियाओं में सहायक होता है।
(ii) जीवन का आयुष्य बढ़ता है।	(ii) यह शरीर कोशिकाओं के विकास, संरक्षण व पुनर्जनन में सहायक होता है।
(iii) शरीर-तन्त्र पुष्ट (कार्यक्षम) रहता है।	(iii) यह रोग प्रतीकार क्षमता देता है।
(iv) शरीर की कान्ति बढ़ती है।	(iv) शरीर की कार्य प्रणाली को संतुलित एवं नियन्त्रित करता है।
(v) जीवन सुस्वादु होता है।	(v) यह शारीरिक क्रियाओं को आवश्यक ऊर्जा प्रदान करता है।
(vi) भूख की प्राकृतिक अभिलाषा शांत होती है।	
(vii) दशों प्राण संधारित रहते हैं।	
(viii) आहार औषध का कार्य भी करता है।	
(ix) इससे संयमपूर्वक चलन-फिरन क्रिया होती रहती है।	
(x) इससे तप और ध्यान में सहायता मिलती है।	

(ब) आध्यात्मिक लाभ

(i) यह चरम आध्यात्मिक लक्ष्य (मोक्ष) प्राप्ति का साधन है।
(ii) यह धर्मपालन के लिए आवश्यक है।
(iii) इससे ज्ञान प्राप्ति में सहायता मिलती है।

आशाधर[1] के अनुसार शरीर की स्थिति के लिए आहार आवश्यक है। स्थानांग[2] में आहार से मनोज्ञता, रसमयता, पोषण, बल, उद्दीपन और उत्तेजन की बात कही है। शारीरिक बल पुष्टि, कांति और रोगप्रतिकार क्षमता का ही प्रतीक है। स्वामिकुमार[3] तो क्षुधा और तृषा को प्राकृतिक व्याधि ही मानते हैं। उनके अनुसार, आहार से प्राणधारण और शास्त्राभ्यास दोनों संभावित हैं। कुन्दकुंद[4] भी यह मानते हैं कि आहार ही मांस, रुधिर आदि में परिणत होता है। फलतः यह स्पष्ट है कि आहार के शास्त्रीय उद्देश्य वे ही हैं जिन्हें हम प्रतिदिन अनुभव करते हैं। इन्हें यदि आधुनिक भाषा में कहा जावे तो यह कह सकते हैं कि शरीर-तन्त्र में सामान्यतः दो प्रकार की क्रियाएँ होती हैं : सामान्य एवं विशेष। सामान्य क्रियाओं में श्वासोच्छ्वास या प्राणधारण की क्रिया, पाचन-क्रिया आदि तथा विशेष क्रियाओं में आजीविका सम्बन्धी कार्य, लिखना-पढ़ना, श्रम, तप, साधना आदि समाहित हैं। आज

१. आशाधर; **अनागार धर्मामृत**, वही १९७७, पृ० ४९५
२. — **ठाणं**, जैन विश्वभारती, लाडनूं
३. स्वामि, कुमार; **स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा**, रायचंद्र आश्रम, अगास १९७८, पृ० २६४
४. कुंदकुंद; **समयसार**, सी० जे० पब्लिशिंग हाउस लखनऊ, १९३०, पृ० १०९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के आहार-विज्ञानियों ने जीव शरीर की कोशिकीय संरचना और क्रियाविधि के आधार पर सारिणी २ में दिये गये आहार के तीन अतिरिक्त उद्देश्य भी बताये हैं। इनका उल्लेख शास्त्रों में प्रत्यक्षतः नहीं पाया जाता। वैज्ञानिक शरीर की स्थिति के अतिरिक्त विकास, सुधार व पुनर्जन्म हेतु भी आहार को आवश्यक मानते हैं। यह तथ्य मानव की गर्भावस्था से बालक, कुमार, युवा एवं प्रौढ़ावस्था के निरन्तर विकासमान रूप तथा रुग्णता या कुपोषण के समय आहार की गुणवत्ता के परिवर्तन से होने वाले लाभ से स्पष्ट होता है।

बीसवीं सदी के प्रारम्भ में ही वैज्ञानिकों ने पाया कि कोई कार्य, गति या प्रक्रिया भीतरी या बाहरी ऊर्जा के बिना नहीं हो सकती। शरीर-संबंधित उपरोक्त कार्य भी ऊर्जा के बिना नहीं होते। इसलिये यह सोचना सहज है कि आहार के विभिन्न अवयवों से शरीर के विभिन्न कार्यों के लिये ऊर्जा मिलती है। यह ऊर्जा-प्रदाय उसके चयापचय में होने वाले जीव-रासायनिक, शरीर क्रियात्मक एवं रासायनिक परिवर्तनों द्वारा होता है। यह ज्ञात हुआ है कि सामान्य व्यक्ति के लिये उपरोक्त लक्ष्यों की पूर्ति के लिये लगभग दो हजार कैलोरी ऊर्जा की आवश्यकता होती है। अतः हमारे आहार का एक लक्ष्य यह भी है कि उसके अन्तर्ग्रहण एवं चयापचय से समुचित मात्रा में ऊर्जा प्राप्त हो। इस प्रकार, वैज्ञानिक दृष्टि से आहार ऐसे पदार्थों या द्रव्यों का अन्तर्ग्रहण है जिनके पाचन से शरीर की सामान्य-विशेष क्रियाओं के लिये ऊर्जा मिलती रहे। यह परिभाषा शास्त्रीय परिभाषा का विस्तृत एवं वैज्ञानिक रूप है। इसमें गुणात्मकता के साथ परिमाणात्मक अंश भी इस सदी में समाहित हुआ है।

आहार के भेद-प्रभेद

जैन शास्त्रों में आहार को दो आधारों पर वर्गीकृत किया गया है : (१) आहार में प्रयुक्त घटक और (२) आहार के अन्तर्ग्रहण की विधि। प्रथम प्रकार के वर्गीकरण को सारिणी ३ में दिया गया है। इससे प्रकट होता है कि मुख्यतः आहार के चार घटक माने गये हैं जिनमें कहीं कुछ नाम व अर्थ में अन्तर है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भ में आहार के केवल दो ही घटक माने जाते थे। भक्त (ठोस खाद्य पदार्थ) और पान (तरल खाद्य पदार्थ) या पान और भोजन (भक्तपान, पान-भोजन)[1]। यह शब्द भी कब-कैसे हुआ, यह अन्वेषणीय है। प्रज्ञापना[2] में सजीव (पृथ्वी, जलदि), निर्जीव (खनिज, लवणादि) एवं मिश्र प्रकार के त्रिघटकी आहार बताये गये हैं। इससे प्रतीत होता है कि आहार के घटकगत चार या उससे अधिक भेद उत्तरवर्ती हैं। डा० मेहता[3] ने आवश्यकसूत्र का उद्धरण देते हुए औषध एवं भेषज को भी आहार के अन्तर्गत समाविष्ट करने का सुझाव दिया है। इनमें अशन और खाद्य एकार्थक लगते हैं। पर दो पृथक् शब्दों से ऐसा लगता है कि अशन से पक्वान्न (ओदनादि) का और खाद्य से कच्चे ही खाये जाने वाले पदार्थों (खजूर, शर्करा) का बोध होता है। पर एकाधिक स्थान में पुआ, लड्डू आदि को भी इसके उदाहरण के रूप में दिया गया है। अतः अशन और खाद्य के अर्थों में स्पष्टता अपेक्षित है। इसी प्रकार अशन, खाद्य और भक्ष्य के अर्थ भी स्पष्टता

१. उत्तराध्ययन, पृ० १५७

२. *आर्यश्याम, प्रज्ञापनासूत्र*

३. डा० मेहता, मोहन लाल; जैन आचार, पार्श्वनाथ विद्याश्रम, काशी १९६६, पृ० १६६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चाहते हैं। पान, पेय और पानक भी स्पष्ट तो होने ही चाहिये। आशाधर[१] ने लेप को भी आहार माना है और तैल मर्दन का उदाहरण दिया है। इसमें तेल का किंचित् अन्तर्ग्रहण तो होता ही है। बृहत्कल्पभाष्य में साधुओं के लिए तीन आहारों का वर्णन किया है जो स्नेह और रसविहीन आहार के द्योतक हैं। मूलाचार[२] में चार और छह दोनों प्रकार के घटक बताये गये हैं। ऐसे ही कुछ वर्णनों से इसे संग्रह ग्रन्थ कहा जाता है।

सारिणी ३. **आहार के घटकगत भेद**

	दशवैकालिक	मूलाचार १	मूलाचार २	रत्नकरंड श्रावकाचार	सागार धर्मामृत	अन० धर्मामृत	उदाहरण
१.	अशन	अशन	अशन	—	—	अशन	ओदनादि
२.	पान	पान	पान	—	—	पान	जल, दुग्धादि
३.	खाद्य	खाद्य	खाद्य	खाद्य	खाद्य	खाद्य	खजूर, लड्डू
४.	स्वाद्य	स्वाद्य	—	स्वाद्य	स्वाद्य	स्वाद्य	पान, इलायची
५.	—	—	भक्ष्य	—	—	—	मंडकादि
६.	—	—	लेह्य	लेह्य	—	—	लप्सी, हलुआ
७.	—	—	पेय	पेय	पेय	—	जल, दुग्ध
८.	—	—	—	—	लेप	—	तैलमर्दन

'अशन' कोटि का विस्तृत निरूपण देखने में नहीं आया है। इसका उद्देश्य क्षुधा-उपशमन है। इस कोटि में मुख्यतः अन्न या धान्य लिया जा सकता है। यद्यपि श्रुतसागर सूरि ने धान्य के ७ या १८ भेद बताये हैं पर पूर्ववर्ती साहित्य[३] में २४ प्रकार के धान्यों का उल्लेख है। इनमें वर्तमान में इक्षु और धनिया को धान्य नहीं माना जाता। इसीलिए श्रुतसागर[४] की सूची में भी इनका नाम नहीं है। प्राचीन साहित्य[५] में पेय पदार्थों के सामान्यतः तीन भेद माने गये हैं पर आशाधर[६] ने सभी को पानक मानकर उसके छह भेद बताये हैं (सारिणी ४)। व्रतविधानसंग्रह में 'कांजी' जाति को पृथक् गिनाया गया है पर उसे 'पानक' में ही समाहित मानना चाहिए। यह स्पष्ट है कि आशाधर के छह पानक पूर्ववर्ती[७] आचार्यों से नाम व अर्थ में कुछ भिन्न पड़ते हैं। अशन की तुलना में पानकों को प्राणानुग्रही माना जाता है। सारिणी ४ ऐतिहासिक दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है।

१. पंडित, आशाधर
२. मूलाचार १, पृ० ३६१ एवं भाग २, पृ० ६६
३. सेन, मधु; कल्चरल स्टडी ऑफ निशीथचूर्णि, पार्श्वनाथ विद्याश्रम, काशी, १९७५, पृ० १२५
४. श्रुतसागर सूरि; तत्त्वार्थवृत्ति, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, १९४९, पृ० २५१
५. मुनि नथमल (सं०); दशवैकालिक : एक समीक्षात्मक अध्ययन, तेरापंथी भ्रातृसभा, कलकत्ता १९६७, पृ० २०७
६. अष्टपाहुड पृ० ३३३
७. आचार्य, शिवकोटि; भगवती आराधना, जीवराज ग्रन्थमाला, शोलापुर १९१८, पृ० ४९८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सारिणी ४ अशन/धान्य तथा पानकों के विविध रूप

निशीथचूर्ण	श्रुतसागर		षट्पानक (सा० धर्मामृत)	षट्पानक (भ० आ०)
(अ) कार्बोहाइड्रेटी				
१. गेहूँ	१ गेहूँ	१ गेहूँ	१. घन (दही आदि)	स्वच्छ (नीबू रस)
२. शालि	२ शालि	२ शालि	२. तरल (अम्ल रस)	बहल (फल रस)
३. व्रीहि			३. लेपि	लेपि (दही)
४. षष्टिक	३ यव	३ यव	४. अलेपि	अलेपि —
५. यव	—	४ कोद्रव	५. ससिक्थ	ससिक्थ (दूध)
६. कोद्रव	—	५ कंगु (धान विशेष)	६. असिक्थ	असिक्थ (मांड)
७. कंगु	—	६ रालक ,,		
८. रालक	—	७ मठवैणक (ज्वार)		
(ब) प्रोटीनी			**तीन-पेय**	
९. मूंग	४. मूंग	८ मूंग	१ पान	(सुरायें, मद्य)
१०. उड़द	५. उड़द	९ उड़द	२ पानीय	(जल)
११. चना	६. चना	१० चणक	३ पानक	(फल रसादि)
१२. अरहर	७. अरहर	११ अरहर		
१३. राजमा	–			
१४. अतीसंद (मटर)	–	१२ राजमा (रमासी)		
१५. मसूर	–	१३ मकुष्ट (वनमूंग)		
१६. कालोय (मटर)				
१६. अगुरु (सेम)	–	१४ सिंवा (सेम)		
१८. निष्पाव (मखनास)	–	१५ की नाश (मसूर)		
१९. कुलथी (बटरा)	–	१६ कुलथी (बटरा)		
(स) वसीय				
२०. तिल	–	१७ सर्षप		
२१. अलसी	–	१८ तिल		
२२. त्रिपुड	–	–		
(द) विविध				
२३. इक्षु	–	–		
३४. धनियाँ	–	–		

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्तर्ग्रहण-विधि पर आधारित भेद

भगवतीसूत्र और प्रज्ञापना में अन्तर्ग्रहण की विधि पर आधारित आहार के तीन भेद बताये गए हैं—ओजाहार, रोमाहार और कवलाहार। इसके विपर्यास में वीरसेन ने धवला[1] में छह आहार बताये हैं : ऊष्मा या ओजाहार, लेप या लेप्याहार, कवलाहार, मानसाहार, कर्माहार, नोकर्माहार। वहाँ यह भी बताया गया है कि विग्रहगति-समापन्न जीव, समुद्घातगत केवली और सिद्ध अनाहारक होते हैं। लोढ़ा[2] ने वनस्पतियों के प्रकरण में ओजाहार को स्वांगीकरण (एसिमिलेशन) कहा है, यह त्रुटिपूर्ण प्रतीत होता है। इस शब्द का अर्थ अन्तर्ग्रहण के बाद होने वाली क्रिया से लिया जाता है जिसे अन्नपाचन कह सकते हैं। वस्तुतः इसे शोषण या एबसोर्प्शन मानना चाहिए जो बाहरी या भीतरी-दोनों पृष्ठ पर हो सकता है। हमारे शरीर या वनस्पतियों द्वारा सौर ऊष्मा एवं वायु का पृष्ठीय अवशोषण इसका उदाहरण है। लेप्याहार को भी इसी का एक रूप माना जा सकता है। रोमाहार को विसरण या परासरण प्रक्रिया कह सकते हैं। यह केवल वनस्पतियों में ही नहीं, शरीर-कोशिकाओं में निरंतर होता रहता है। कबलाहार तो स्पष्ट ही मुख से लिये जाने वाले ठोस एवं तरल पदार्थ हैं। ये तीनों प्रकार के आहार सभी जीवों के लिये सामान्य हैं। जब भावों और संवेगों का प्रभाव भी जीवों में देखा गया तब विभिन्न कर्म, नोकर्म एवं मनोवेगों को भी आहार की श्रेणी में समाहित किया गया। यह सचमुच ही आश्चर्य है कि भारत में इस मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया का अवलोकन नवीं सदी में ही कर लिया गया था। ये तीनों ही सूक्ष्म या ऊर्जात्मक पुद्गल हैं। अंतरंग या बहिरंग परिवेश से रोमाहार द्वारा इनका अन्तर्ग्रहण होता है और अनुरूपी परिणाम होता है। फलतः वीरसेन के अन्तिम तीन आहार सामग्री-विशेष को द्योतित करते हैं, विधि-विशेष को नहीं। अतः अन्तर्ग्रहण विधि पर आधारित आहार तीन प्रकार का ही उपयुक्त मानना चाहिए।

घटक-गत भेदों का वैज्ञानिक समीक्षण

आधुनिक वैज्ञानिक मान्यतानुसार[3], आहार के छह प्रमुख घटक होते हैं :

नाम	उदाहरण	ऊर्जा k[illegible]
१. कार्बोहाइड्रेटी या शर्करामय पदार्थ	: गेहूँ, चावल, यव, ज्वार, कोदों, कंगु	४.० [illegible]
२. वसीय पदार्थ	: सर्षप, तिल, अलसी	९.० [illegible]
३. प्रोटीनी पदार्थ	: माष, मूंग, चना, अरहर, मटर	४.० [illegible]
४. खनिज पदार्थ	: फल-रस, शाक-भाजी	–
५. विटामिन-हार्मोनी पदार्थ	: गाजर, संतरा, आंवला	–
६. जल	: शोधित, छनित जल	–

१. स्वामी वीरसेन; धवला खंड १-१, एस० एल० ट्रस्ट, अमरावती १९३९, पृ० ४०९

२. लोढ़ा, कन्हैयालाल; **मरुधर केसरी अभि० ग्रन्थ**, १९६८, पृ० १३७-८४

३. पाइक, आर० एल० एवं ब्राउन, मिरटिल; **न्यूट्रीशन**, बइली-ईस्टर्न, दिल्ली १९७०, अध्याय २-४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वैज्ञानिक विभिन्न प्राकृतिक खाद्य-पदार्थों को उनके प्रमुख घटक के आधार पर वर्गीकृत करते हैं क्योंकि उनमें इसके अतिरिक्त अन्य उपयोगी घटक भी अल्पमात्रा में पाये जाते हैं। ये अल्पमात्रिक घटक खाद्यों की सुपाच्यता, पार्श्वप्रभावरहितता तथा ऊर्जाप्रभाव को नियन्त्रित करते हैं। यदि हम शास्त्रीय विवरण का इस आधार पर अध्ययन करें, तो प्रतीत होता है कि अशनादि घटक (अशन: ठोस; पान: द्रव; खाद्य: फल-मेवे; स्वाद्य: विटामिनादि) विशिष्ट आहार वर्ग को निरूपित करते हैं। उस समय रासायनिक विश्लेषण के आधार पर तो वर्गीकरण सम्भव नहीं था, अत: केवल अवस्था (ठोस, द्रव एवम् गैसीय अवस्था की धारणा भी नगण्य थी) के आधार पर ही वर्गीकरण सम्भव था। अशन को धान्य जातिक मानने पर यह देखा जाता है कि उसके 7/18/24 भेदों में वर्तमान वैज्ञानिकों द्वारा मान्य तीन प्रमुख कोटियाँ समाहित हैं। पान को द्रव-आहार मानने पर उसमें जल' फल-रस, द्राक्षा-जल, मांड, दूध, दही आदि समाहित होते हैं। इनमें भी वैज्ञानिकों द्वारा मान्य तीनों प्रमुख व अन्य कोटियों के पदार्थ हैं। मांड, द्राक्षाजल कार्बोहाइड्रेट हैं, दही प्रोटीन/वसीय है, नीबू, फल-रस विटामिन-खनिज तत्त्वी हैं। द्रवाहार से शरीर क्रियात्मक परिवहन एवं सन्तुलन बना रहता है। वैज्ञानिक जल को छोड़कर अन्य पानकों को उनके प्रमुख घटकों के आधार पर ही वर्गीकृत करते हैं। द्रव घटकों में प्रमुख कोटियों के अतिरिक्त दो अन्य कोटियाँ भी पायी जाती हैं।

खाद्य-घटक के अंतर्गत दिये गये उदाहरणों से इसमें मुख्यत: फल-मेवे और एकाधिक घटकों के मिश्रण से बने खाद्य आते हैं—पुआ, लड्डू, खजूर आदि। स्वाद्य कोटि के उदाहरणों से खनिज, ऐल्केलायड तथा अल्पमात्रिक घटकी पदार्थों (पान, इलायची, लौंग, कालीमिर्च, औषध आदि) की सूचना मिलती है। इसे वैज्ञानिकों की उपरोक्त ४-५ कोटियों में रखा जा सकता है।

उपरोक्त समीक्षण से यह स्पष्ट है कि शास्त्रीय विवरण में आहार सम्बन्धी घटकगण वर्गीकरण व्यापक तो है, पर यह पर्याप्त स्थूल, मिश्रित और अस्पष्ट है। इसे अधिक यथार्थ रूप में प्रस्तुत करने की आवश्यकता है। फिर भी इस विवरण से यह ज्ञात होता है कि जैन शास्त्रों में वर्णित आहार-विज्ञान में वर्तमान में मान्य सभी घटकों को समाहित करने वाले खाद्य पदार्थ सम्मिलित किये गये हैं। मधुसेन[1] का यह मत सही प्रतीत होता है कि शास्त्रीय युग में सैद्धान्तिक दृष्टि से आहार के वर्तमान पौष्टिकता के सभी तत्त्व परोक्षत: समाहित थे।

उपरोक्त घटकों के उदाहरणों से एक मनोरंजक तथ्य सामने आता है। इनमें वनस्पतिज शाकभाजी सामान्यत: समाहित नहीं हैं। वे किस कोटि में रखी जावें, यह स्पष्ट नहीं है तथापि शास्त्रों में उनकी भक्ष्यता की दशाओं पर विचार किया गया है।

आहार का काल

आशाधर[2] ने बताया है कि द्रव्य, क्षेत्र, काल (ऋतुएँ, दिन), भाव एवं शरीर के पाचन सामर्थ्य की समीक्षा कर शारीरिक एवम् मानसिक स्वास्थ्य के लिए भोजन करना

१. डा० मधुसेन, कल्चरल स्टडी ऑफ निशीय चूर्णि, पा० वि० शोध संस्थान वाराणसी, पृ० १२५
२. अनगार धर्मामृत, पृ० ४०९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चाहिए। यह तथ्य जितना साधुओं पर लागू होता है, उतना ही सामान्य जनों पर भी। निशीथचूर्णि (५९०-६९० ई०) में बताया गया है कि एक ही देश के विभिन्न क्षेत्रों में आहार-सम्बन्धी आदतें और परम्परायें भिन्न-भिन्न होती हैं। जांगल, अ-जांगल एवं साधारण क्षेत्र विशेषों के कारण मानव प्रकृति में विशिष्ट प्रकार से त्रिदोषों का समवाय होता है। यह आहार के घटकों का संकेत या नियन्त्रण करता है। विभिन्न ऋतुयें भी आहार की प्रकृति और परिमाण को परिवर्ती बनाती हैं। शरद-वसन्त ऋतु में रूक्ष अन्नपान, ग्रीष्म व वर्षा में शीत अन्नपान, हेमन्त एवं शिशिर ऋतु में स्निग्ध एवं उष्ण आहार लेना चाहिए। उग्रादित्य[१] ने तो दिन के विभिन्न भागों को ही छह ऋतुओं में वर्गीकृत कर तदनुसार खानपान का सुझाव दिया है :

पूर्वाह्न : वसन्त; मध्याह्न: ग्रीष्म; अपराह्न: वर्षा;
आद्यरात्रि: प्रावृट्; मध्यरात्रि: शरद; प्रत्यूष: हेमन्त

भगवतीआराधना[२] में कहा गया है कि ऋतु आदि की अनुरूपता के साथ क्षेत्र-विशेष की परम्परा भी आहार-काल व प्रमाण को प्रभावित करती है। मूलाचार[३] तो आहार को व्याधिशामक मानता है। यही नहीं, आहार को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उत्साहवर्धक एवं भावनात्मकतः सन्तुष्टिकारक भी होना चाहिए। यह प्रक्रिया आहार द्रव्यों और उनके पकाने की विधि पर भी निर्भर करती है। साधु तो ४६ दोषों से रहित शुद्ध भोजन, विकृति-रहित पर द्रव-द्रव्य युक्त विद्ध भोजन एवं उबला हुआ प्राकृतिक भोजन कर आनंदानुभूति करता है पर सामान्य जन इसके विपरीत भी योग्यायोग्य विचार कर भोजन करते हैं।

आयुर्वेदिक दृष्टि से उग्रादित्य[४] का मत है कि भोजन काल तब मानना चाहिए जब (१) मल-मूत्र-विसर्जन ठीक से हुआ हो (२) अपानवायु निसरित हो चुकी हो (३) शरीर हल्का लगे और इन्द्रियाँ प्रसन्न हों (४) जठराग्नि उद्दीप्त हो रही हो और भूख लग रही हो (५) हृदय स्वस्थ हो और त्रिदोष साम्य में हो। नेमीचन्द्र चक्रवर्ती ने भी मन भावनात्मक क्षुधानुभूति, असाता वेदनीय कर्म की उदीरणा, आहार-दर्शन से होने वाली इच्छा एवं प्रवृत्ति को आहारकाल बताया है। आशाधर ने सूर्योदय से पैंतालिस मिनट बाद से लेकर सूर्यास्त से पौन घण्टे पहले तक के काल को सामान्य जनों के लिए आहार काल बताया है। इसके विपर्यास में, मूलाचार में साधुओं के लिए सूर्योदय से सवा घण्टे बाद तथा सूर्यास्त से सवा घण्टे पूर्व के लगभग १० घण्टे के मध्य काल को आहार काल बताया गया है। उत्तम पुरुष दिन में एक बार और मध्यम पुरुष उपरोक्त समय सीमा में दिन में दो बार आहार लेते हैं। रात्रिभोजन तो जैनों में स्वीकृत ही नहीं है। इस प्रकार सामान्य मनुष्य का लगभग आधा जीवन उपवास में ही बीतता है।

---

१. उग्रादित्य, आचार्य; कल्याण कारक, सखाराम नेमचंद्र ग्रन्थमाला, शोलापुर १९४० पृ० ५६
२. भगवती आराधना, पृ० ६०७
३. मूलाचार, पृ० ३७४
४. कल्याणकारक, पृ० ५५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूलाचार और उत्तराध्ययन के अनुसार, मध्याह्न या दिन का तीसरा प्रहर आहार काल बैठता है। कृषकों के देश में यह काल उचित ही है। पर वर्तमान में आहार काल प्रायः पूर्वाह्न १२ बजे के पूर्व ही समाप्त हो जाता है। महाप्रज्ञ[1] का मत है कि वास्तविक आहार काल रसोई बनने के समय के अनुरूप मानना चाहिए जो क्षेत्रकाल के अनुरूप परिवर्तनशील होता है।

शास्त्रों में रात्रिभोजन के अनेक दोष बताये गये हैं। प्रारम्भ में आलोकित-पान-भोजन के रूप में इसकी मान्यता थी। तैल-दीपी रात्रि में विद्युत की जगमगाहट आ जाने से प्राचीन युग के अनेक दोष काफी मात्रा में कम हो गये हैं। इसलिए यह विषय परम्परा के बदले सुविधा का माना जाने लगा है। फिर भी स्वस्थ, सुखी एवं अहिंसक जीवन की दृष्टि से इसकी उपयोगिता को कम नहीं किया जा सकता। इसीलिए इसे जैनत्व के चिह्न के रूप में आज भी प्रतिष्ठा प्राप्त है।

आहार काल और अन्तराल की जैन मान्यता विज्ञान-समर्थित है।

आहार का प्रमाण

सामान्य जन के आहार का प्रमाण कितना हो, इसका उल्लेख शास्त्रों में नहीं पाया जाता। परन्तु भगवती आराधना, मूलाचार, भगवती सूत्र, अनगार धर्मामृत आदि ग्रंथों में साधुओं के आहार का प्रमाण बताते हुए कहा है कि पुरुष का अधिकतम आहार-प्रमाण ३२ ग्रास प्रमाण एवं महिलाओं का २४ ग्रास प्रमाण होता है। औपपातिकसूत्र[2] में आहार के भार का 'ग्रास' यूनिट एक सामान्य मुर्गी के अण्डे के बराबर माना गया है जबकि वसुनंदि ने मूलाचारवृत्ति[3] में इसे एक हजार चावलों के बराबर माना है। अण्डे के भार को मानक मानना आगमयुग में इसके प्रचलन का निरूपक है। बाद में सम्भवतः अहिंसक दृष्टि से यह निषिद्ध हो गया और तंडुल को भार का यूनिट माना जाने लगा यह तंडुल भी कौन-सा है, यह स्पष्ट नहीं है। पर तंडुल शब्द से कच्चा चावल ग्रहण करना उपयुक्त होगा। सामान्यतः एक अण्डे का भार ५०-६० ग्राम माना जाता है : फलतः मनुष्य के आहार का अधिकतम दैनिक प्रमाण ३२ × ५० = १६०० ग्राम तथा महिलाओं के आहार-प्रमाण २८ × ५० = १४०० ग्राम आता है। बीसवीं सदी के लोगों के लिए यह सूचना अचरज में डाल सकती है, पर पदयात्रियों के युग में यह सामान्य ही मानी जानी चाहिए। इसके विपर्यास में एक हजार चावल के यूनिट का भार १२–१५ ग्राम होता है, इस आधार पर पुरुष का आहार-प्रमाण ३२ × १५ = ४८० ग्राम और महिला का आहार-प्रमाण २८ × १५ = ४२० ग्राम आता है। यह कुछ अव्यावहारिक प्रतीत होता है। यह 'यूनिट' संशोधनीय है। प्रमाण के विषय में 'ग्रास' के यूनिट को छोड़कर शास्त्रों में कोई मतभेद नहीं पाया जाता।

आहार का यह प्रमाण प्रमाणोपेत, परिमित व प्रशस्त कहा गया है। एकभक्त साधु के लिए यह एक बार के आहार का प्रमाण है, सामान्य जनों के लिए यह दो बार के भोजन

१. महाप्रज्ञ, युवाचार्य (सं०); दशवैकालिक, जैन विश्वभारती, लाडनूँ १९७४, पृ० १९५

२. स्थविर; औपपातिक सूत्र, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९८२, पृ० ४७, ५२

३. मूलाचार पृ० २८६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का प्रमाण है। चतुःसमयी आहार-युग में यह दैनिक आहार प्रमाण होगा। सन्तुलित आहार की धारणा के अनुसार, एक सामान्य प्रौढ़ पुरुष और महिला का आहार-प्रमाण १२५०-१५०० ग्राम के बीच परिवर्ती होता है। आगमिक काल के चतुरंगी आहार में सम्भवतः जल भी सम्मिलित होता था।

शास्त्रों में आहार प्रकरण के अन्तर्गत आहार के विभाग भी बताये गये हैं। मूलाचार में[1] उदर के चार भाग करने का संकेत है। उसके दो भागों में आहार ले, तीसरे भाग में जल तथा चौथा भाग वायु-संचार के लिए रखें। इसका अर्थ यह हुआ कि भोजन का एक-तिहाई हिस्सा द्रवाहार होना चाहिए। इससे स्वास्थ्य ठीक रहेगा और आवश्यक क्रियाएँ सरलता से हो सकेंगी। उग्रादित्य ने आहार-परिमाण तो नहीं बताया पर उसके विभाग अवश्य कहे हैं। सर्वप्रथम चिकना मधुर पदार्थ खाना चाहिए, मध्य में नमकीन एवं अम्ल पदार्थों को खाना चाहिए, उसके बाद सभी रसों के आहार करना चाहिए, सबसे अन्त में द्रवप्राय आहार लेना चाहिए। सामान्य भोजन में दाल, चावल, घी की बनी चीजें, कांजी, तक्र तथा शीत/उष्ण जल होना चाहिए। भोजनान्त में जल अवश्य पीना चाहिए। सामान्यतः यह मत प्रतिफलित होता है कि भूख से आधा खाना चाहिए। यह मत आहार की सुपाच्यता की दृष्टि से अति उत्तम है। शास्त्रों में यह भी बताया गया है कि पौष्टिक खाद्य, अधपके खाद्य या सचित्त खाद्य खाने से बात रोग, उदर पीड़ा एवं मदवृद्धि होते हैं।[2]

सामान्य आहार घटकों में उपरोक्त विभाग निश्चित रूप से आधुनिक आहार विज्ञान के अनुरूप नहीं प्रतीत होता। इसमें सन्तुलित आहार की धारणा का समावेश नहीं है। इसी कारण अधिकांश साधुओं में पोषक तत्त्वों का अभाव रहता है और उनका शरीर तप व साधना के तेज से दीप्त नहीं रहता। वह प्रभावक एवं अन्तःशक्ति गर्भित भी नहीं लगता। यद्यपि सैद्धान्तिक दृष्टि से यह तथ्य महत्त्वपूर्ण नहीं है, फिर भी व्यावहारिक दृष्टि से इसकी महान् भूमिका है।

भक्ष्याभक्ष्य विचार

जैन शास्त्रीय आहार-विज्ञान में विभिन्न खाद्य पदार्थों की एषणीयता पर प्रारम्भ से ही विचार किया गया है। आचारांग, समन्तभद्र, पूज्यपाद, अकलंक, भास्करनन्दि, आशाधर और शास्त्री[3] ने अभक्ष्यता के निम्न आधार बताए हैं, (सारिणी ५)। इनसे स्पष्ट है कि अभक्ष्यता का आधार केवल अहिंसात्मकता ही नहीं है, इसके अनेक लौकिक आधार भी हैं। मानव के परपोषी होने के कारण इन सभी आधारों पर विचारणा स्वतन्त्र शोध का विषय है।

---

१. मूलाचार, पृ० ३६८

२. स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, पृ० २५५

३. शास्त्री, पं० जगन्मोहनलाल (अनु०) श्रावक धर्म प्रदीप, वर्णी शोध संस्थान, काशी १९८० पृ० १०७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सारिणी ५. **अभक्ष्यता के आधार (शास्त्रीय)**

आधार	कारण	उदाहरण
१. **त्रसजीव घात** बहुजन्तु योनि स्थान बहु-घात/बहुवध	दो या अधिकेन्द्रिय जीवों की स्थिति से हिंसा त्रस-जीव हिंसा	पंचोदुम्बरफल, चलितरस, अचार-मुरब्बादि, मधु, मांस, द्विदल, रात्रिभोजन
२, स्थावर जीव घात (अनंतकायिक)	प्रत्येक/ अनंतकाय वनस्पति जीवों की हिंसा	कंदमूल, बहुबीजक, कोंपल कच्चे फल
३. प्रमाद/मादकतावर्धक	आलस्य, उन्मत्तता, चित्त-विभ्रम	मद्य, गांजा, भांग, चरसादि
४. रोगोत्पादकता/अनिष्टता	स्वास्थ्य के लिए अहितकर	—
४. अनुपसेव्यता/लोकविरुद्धता	—	प्याज, लहसुन आदि
६. अल्पफल-बहुविघात, अल्प भोज्य-बहु-उज्झणीय	वनस्पतिघात	गन्ने की गड़ेरी, तेंदू, कलींदा फलीदार पदार्थ, नाली, सूरण
७. अपक्वता/अशस्त्र प्रतिहतता अनग्निपक्वता	सभी वनस्पति प्रारम्भ में सजीव रहते हैं, अप्रासुक हैं	जल

इन आधारों पर शास्त्रों में अभक्ष्य पदार्थों की बाइस श्रेणियाँ बताई गई हैं। यह संख्या अठारहवीं सदी में स्थिर हुई है। इसके पूर्व शास्त्रों में अभक्ष्यों की कोटियाँ तो बताई गईं, पर निश्चित संख्या का संकेत नहीं था। साध्वी मंजुला[1] के अनुसार, इनका सर्वप्रथम उल्लेख धर्मसंग्रह नामक ग्रन्थ में मिलता है। सारिणी ६ में तीन स्रोतों में प्राप्त बाइस अभक्ष्यों को दिया गया है। इससे स्पष्ट है कि प्रत्येक सूची में कुछ अन्तर है ऐसा प्रतीत होता है कि इस सूची में समय-समय पर नाम जोड़े गये हैं, इसीलिए इसमें अनेक नामों/

सारिणी ६. **विभिन्न स्रोतों में बाइस अभक्ष्य**

	धर्म संग्रह	जीव विचार प्रकरण[2]	दौलतराय क्रियाकोष[3]
(अ)	किण्वित		
१.	मद्य	मद्य	मद्य
२.	मक्खन	मक्खन	मक्खन
३.	चलित रस	चलित रस	किण्वन-पदार्थ
४.	द्विदल	—	घोल बड़ा दही बड़ा द्विदल

१. साध्वी मंजुला; अनुसंधान पत्रिका–३, १९७५, पृ० ५३

२. शान्तिसूरि; जीव विचार प्रकरण, जैन मिशन सोसाइटी, मद्रास, १९५०, पृ० ५७

३. दौलतराम, पंडित; जैन क्रिया कोष, जिनवाणी प्रचारक कार्यालय, कलकत्ता १९२७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(ब)	**परिरक्षित:**		
५.	अचार-मुरब्बा	अचार-मुरब्बा	अचार-मुरब्बा
(स)	**त्रस-स्थावर जीव घात**		
६-१०	पंचोदुंबर फल	पंचोदुंबर फल	पंचोदुंबर फल
११.	मांस	मांस	मांस
१२.	मधु	मधु	मधु
१३.	अनंतकायिक	अनंतकायिक	कंदमूल
१४.	बहुबीजक	बहुबीजक	बहुबीजक
१५.	बेंगन	बेंगन	बेंगन
(द)	**विविध**		
१६.	विष	विष	विष
१७.	बर्फ	बर्फ	बर्फ
१८.	ओला	ओला	ओला
१९-	तुच्छ फल	तुच्छ फल	—
२०.	अज्ञात फल	अज्ञात फल	अज्ञात फल
२१.	मृत जाति/लवण	कच्चे लवण	—
२२.	रात्रि भोजन	रात्रि भोजन	रात्रिभोजन
		कच्ची माटी	—

कोटियों में पुनरावृत्ति भी है। उदाहरणार्थ, चलित रस में मद्य, मक्खन, द्विदल, अचार-मुरब्बा समाहित होते हैं और बहुबीजक में बैगन आ जाता है। इन्हें चार कोटियों में वर्गीकृत कर वैज्ञानिक दृष्टि से समीक्षित किया जाना चाहिए। आज अनेक प्रकार के प्राकृतिक एवं संश्लेषित खाद्य पदार्थों का युग है। उनकी भक्ष्याभक्ष्य विचारणा भी आवश्यक है। इस पर अन्यत्र[1] चर्चा की गई है।

●

१. जैन, एन० एल; जैन शास्त्रों में भक्ष्याभक्ष्य विचार, (प्रेस में)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org